क्या पैग़म्बर
पर
ईमान लाना ज़रूरी है?

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०)

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

"अल्लाह के नाम से जो बड़ा ही मेहरबान और रहम करनेवाला है।"

दो शब्द

यह किताब अस्ल में मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (1903-1979) के दो लेखों का हिन्दी तर्जमा है। ये लेख मौलाना के लेखों के उर्दू संग्रह तफ़हीमात, हिस्सा-1 में प्रकाशित हुए हैं। ये लेख सन् 1934 ई॰ में उर्दू पत्रिका 'तर्जुमानुल-क़ुरआन' में एक साहब के सवाल के जवाब में लिखे गए थे।

सवाल पैग़म्बरी पर ईमान लाने के बारे में था। मौलाना मौदूदी (रह॰) ने बड़े ही प्रभावकारी ढंग से दलीलों के साथ उनका जवाब दिया। आज भी इस तरह के सवाल बहुत-से लोगों के दिमाग़ों में आते हैं या दूसरे लोगों के द्वारा पैदा किए जाते हैं और लोग उन सवालों की ज़ाहिरी शक्ल को देखकर प्रभावित हो जाते हैं कि अगर कोई व्यक्ति ख़ुदा को एक मानता है और कुछ अच्छे काम भी करता है तो क्या उसके लिए पैग़म्बर पर ईमान लाना ज़रूरी है? और अगर ज़रूरी है तो क्यों? इसलिए ज़रूरत महसूस की गई कि ऐसे क़ीमती लेखों का हिन्दी में तर्जमा प्रकाशित किया जाए।

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (रजि॰) इस्लाम के बारे में हिन्दी ज़बान में किताबें तैयार करने के मुबारक काम में लगा हुआ है। ख़ुदा का शुक्र है कि ट्रस्ट ने यह काम पूरा किया।

हमें उम्मीद है कि यह किताब फ़ायदेमन्द साबित होगी।

—नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

सेक्रेट्री

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (दिल्ली)

(1)

क्या पैग़म्बर पर ईमान लाना ज़रूरी है?

एक साहब ने मेरे लेख 'इस्लामी तहज़ीब और उसके उसूलो-मबादी' म ईमान की बहस पढ़कर सवाल किया जो निम्नलिखित है—

सवाल

इस्लाम को जो चीज़ ख़ासतौर से मक़सूद है वह तौहीद (एकेश्वरवाद और ख़ुदा की इबादत और बन्दगी है। पैग़म्बर सिर्फ़ ज़रिआ हैं और उनप ईमान लाना अपने-आपमें कोई मक़सद नहीं है। हर आदमी ईमान के लिए अपने इल्म और मालूमात, दाइरे और अक़्ल और समझ तक पाबन्द है इसलिए अगर कोई ग़ैर-मुस्लिम तौहीद पर ईमान रखे और अपने तरीक़े प ख़ुदा की इबादत करे मगर अपने इल्म, अक़्ल और समझदारी से काम लें के बावजूद पैग़म्बरी के बारे में 'नेक नीयती' से सन्देह रखता हो तो ऐर आदमी को नजातयाफ़्ता (मोक्ष प्राप्त) क़रार न देने की मुनासिब वजहें क्य हैं? इस सिलसिले में नीचे लिखी क़ुरआन की आयतों पर ध्यान दिया जाए—

> "ऐ किताबवालो! आओ एक ऐसी बात की तरफ़ जो हमारे और तुम्हारे बीच एक समान है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-64)
>
> "ये किताबवाले ईमान लाते तो इन्हीं के हक़ में बेहतर था। जबकि इनमें कुछ लोग ईमानवाले भी पाए जाते हैं, मगर इनकी अकसरियत नाफ़रमान है।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-110)
>
> "मगर सारे किताबवाले एक समान नहीं हैं। उनमें कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सीधे रास्ते पर क़ायम हैं, रातों को अल्लाह की आयतें पढ़ते हैं और उसके आगे सजदे करते हैं, अल्लाह और आख़िरत के

दिन पर ईमान रखते हैं, नेकी का हुक्म देते हैं, बुराइयों से रोकते हैं और भलाई के कामों में सरगर्म रहते हैं। ये नेक लोग हैं, और जो नेकी भी ये करेंगे उसकी नाक़दरी (उपेक्षा) न की जाएगी, अल्लाह परहेज़गार लोगों को ख़ूब जानता है।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयतें-113 से 115)

"ऐ लोगो जो ईमान लाए हो! अल्लाह से डरो और उसके पैग़म्बर (मुहम्मद सल्ल॰) पर ईमान लाओ, अल्लाह तुम्हें अपनी रहमत का दोहरा हिस्सा प्रदान करेगा।" (क़ुरआन, सूरा-57 हदीद, आयत-28)

आख़िर में बयान हुई आयत के बारे में यह भी बताइए कि उसमें आया आ अरबी शब्द 'किफ़्लैन' से क्या मुराद है और 'किफ़्ल' द्विवचन क्यों है?

वाब

आपने अपने पहले वाक्य में इस्लाम का जो मक़सद बयान किया है, वह स्ल में इस्लाम के मक़सद का पूरा-पूरा बयान नहीं है बल्कि उसका सिर्फ़ क हिस्सा है। लेकिन मैं बात लम्बी हो जाने के डर से इस बहस में नहीं ड़ूंगा। मैं यहाँ सिर्फ़ यह बताना चाहता हूँ कि इस्लाम का जो अधूरा मक़सद ापने तय किया है, उसको हासिल करने के लिए भी पैग़म्बरों (अलैहि॰) की ़नुमाई लाज़िमी है।

सबसे पहला सवाल जिसपर ग़ौर करने की ज़रूरत है, यह है कि इस्लाम ा जो मक़सद आप क़रार देते हैं उसको हासिल करने का यक़ीनी ज़रिआ या है। 'तौहीद' जिस चीज़ का नाम है वह सिर्फ़ 'ख़ुदा को एक कहना' नहीं है, बल्कि वह अस्ल में अल्लाह की ज़ात और सिफ़ात की सही-सही ़चान है। इसी तरह 'ख़ुदा की इबादत' का मफ़हूम और मतलब भी सिर्फ़ ाना ही नहीं है कि किसी-न-किसी तौर पर ख़ुदा की इबादत और परस्तिश ी जाए, बल्कि सही मानी में अल्लाह की इबादत यह है कि इनसान शिर्क ़हुदेववाद) की सभी शक्लों से बचकर अपनी ज़िन्दगी उस पाक ज़ात ़स्ती) की बन्दगी के लिए ख़ास कर दे। ये दोनों चीज़ें (इल्म और मारिफ़त ा सही व दुरुस्त होना और इबादत का ख़ालिस होना) इस्लाम की ज़बान

में 'हिदायत' (मार्गदर्शन) के व्यापक नाम से जानी जाती हैं और क़ुरआ
कहता है कि हिदायत जिस चीज़ का नाम है वह वही है जो ख़ुदा की तरफ़
से दी गई हो।

"(ऐ नबी!) उनसे कह दो कि अस्ल में हिदायत तो अल्लाह की हिदायत है।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-73)

ख़ुदा की तरफ़ से हिदायत पाने की दो ही सूरतें हो सकती हैं। या त
किसी के पास सीधे-सीधे ख़ुदा की तरफ़ से हिदायत आए, या किसी ऐ
शख़्स की पैरवी की जाए जिसके पास ख़ुदा की तरफ़ से सीधे-सीधे हिदाय
आई हो। पहला शख़्स इस्लाम की ज़बान में रसूल या नबी है, और दूस
शख़्स के लिए इस्लाम में शब्द 'मोमिन' या 'मुस्लिम' बोला जाता है। फि
अगर कोई आदमी तौहीद का सही इल्म (ज्ञान) रखता है और अपनी बन्दग
और इबादत को एक ख़ुदा के लिए ख़ास कर चुका है तो यक़ीनी तौर प
या तो वह ख़ुद नबी (पैग़म्बर) है या किसी पैग़म्बर का पैरौकार (अनुयायी)
लेकिन अगर वह इन दोनों में से कोई भी नहीं है तो उसके पास इल्म (ज्ञान
नहीं है, सिर्फ़ गुमान और अटकल है—

"और गुमान हक़ की जगह कुछ भी काम नहीं दे सकता।"
(क़ुरआन, सूरा-53 नज्म, आयत-28)

और उसके पास 'इल्म' नहीं है तो उसकी इबादत भी ख़ालिस नहीं ह
सकती, क्योंकि इबादत का ख़ालिस अल्लाह ही के लिए होने का दारोमद
इस बात पर है कि आदमी को अल्लाह की सही पहचान हासिल हो।

आपको यह माँग करने का हक़ है कि क़ुरआन के इस दावे पर अक़्ल
दलील पेश की जाए। मैं इस माँग को पूरा करने के लिए हाज़िर हूँ।

इसमें शक नहीं कि इनसान की फ़ितरत में ख़ुदा की मारिफ़त (पहचान
का जौहर (सत्व) मौजूद है और यह बात भी उसकी फ़ितरत ही में है कि व
सिर्फ़ ख़ुदा की बन्दगी करे जैसा कि क़ुरआन में कहा गया है—

"क़ायम हो जाओ उस फ़ितरत (प्रकृति) पर, जिसपर अल्लाह ने इनसानों को पैदा किया है।" (क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-30)

और पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया है—

"हर बच्चा जो पैदा होता है इस्लाम की फ़ितरत ही पर पैदा होता है।" (हदीस : बुख़ारी-1358, 1385)

लेकिन इस फ़ितरी सलाहियत की क़ुव्वत से अमल में आने के लिए कुछ शर्तें हैं और थोड़े सोच-विचार करने ही से यह मालूम हो सकता है कि वे शर्तें हर आदमी में पूरी नहीं होतीं।

पहली शर्त मुशाहदे की क़ुव्वत (अवलोकन-शक्ति) का इस्तेमाल और सही इस्तेमाल है, ताकि इनसान आँखें खोलकर दुनिया और लोगों व जानदारों में ख़ुदा की निशानियों को देखे और ख़ुदा की सिफ़ात के उन निशानों (चिन्हों) को पहचाने जो हर ज़र्रे और ख़ुद इनसान के अपने वुजूद (अस्तित्व) में पाए जाते हैं। लेकिन इनसानों की एक बड़ी तादाद ऐसी है जो इस तरह का मुशाहदा नहीं करती। वे अलामतों और निशानों के सिर्फ़ बाहरी पहलू को देखते हैं, मगर उनके अन्दरून की तरफ़ ध्यान भी नहीं देते। इसी लिए क़ुरआन इसकी शिकायत करता है—

"ज़मीन और आसमानों में कितनी ही निशानियाँ हैं जिनपर से ये लोग गुज़रते रहते हैं और कुछ भी ध्यान नहीं देते।"

(क़ुरआन, सूरा-12 यूसुफ़, आयत-105)

आसमान और ज़मीन में अल्लाह की कितनी ही निशानियाँ हैं जिनपर से लोग यूँ ही गुज़र जाते हैं और ग़ौरो-फ़िक्र नहीं करते। क़ुरआन में है—

"जबकि बहुत-से इनसान ऐसे हैं जो हमारी निशानियों से ग़फ़लत बरतते हैं।" (क़ुरआन, सूरा-10 यूनुस, आयत-92)

लोगों में से बहुत-से ऐसे हैं जो ख़ुदा की निशानियों से ग़ाफ़िल हैं। ज़ाहिर है कि जो लोग सिरे से मुशाहदे की क़ुव्वत ही इस्तेमाल नहीं करते उनके लिए मारिफ़त (ख़ुदा की पहचान) का दरवाज़ा कभी नहीं खुल सकता।

दूसरी शर्त यह है कि इनसान में ग़ौरो-फ़िक्र की सलाहियत मौजूद हो, और वह भी सही-सही और पूरी हो, ताकि इनसान अपने मुशाहदे को सही तरीक़े से तरतीब देकर उनसे सही नतीजे निकाल सके। इस शर्त की कमी

(अभाव) पहली शर्त से भी ज़्यादा है। पहले तो ग़ौरो-फ़िक्र करनेवाले लोग ही इनसानों में बहुत कम हैं, और जो हैं उनमें भी सही ग़ौरो-फ़िक्र के लोग कम पाए जाते हैं। जैसा कि क़ुरआन मजीद बार-बार कहता है–

"मगर उनमें से ज़्यादातर लोग नादानी में पड़े हुए हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-37)

"और उनमें से ज़्यादातर बेअक़्ल हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-103)

यह ग़ौर-फ़िक्र का न होना और अच्छी सोच की कमी (अभाव) उन रुकावटों में से हैं जो इनसान को सच्चाई के इल्म (जानने) तक पहुँचने से रोकती और उसे टेढ़े रास्तों पर डाल देती हैं। जबकि सीधे रास्ते के निशान हर तरफ़ मौजूद हैं मगर जो आदमी उन निशानों को देखता ही न हो, या देखता हो तो उनसे ठीक नतीजा न निकालता हो, वह किस तरह सही रास्ता पा सकता है? यही बात क़ुरआन मजीद में कही गई है कि ख़ुदा अपनी निशानियाँ खोल-खोलकर बयान करता है, मगर उनके लिए जो अक़्ल रखते हों।

"इस तरह हम आयतें (निशानियाँ) खोलकर पेश करते हैं उन लोगों के लिए जो अक़्ल से काम लेते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-28)

और देखिए कि यही बात क़ुरआन में एक दूसरे मौक़े पर कितने ज़ोर के साथ कही गई है–

"और यह हक़ीक़त है कि बहुत-से जिन्न और इनसान ऐसे हैं, जिनको हमने (ख़ुदा ने) जहन्नम ही के लिए पैदा किया है, उनके पास दिल और दिमाग़ हैं, मगर वे उनसे सोचते नहीं। उनके पास आँखें हैं, मगर वे उनसे देखते नहीं। उनके पास कान हैं, मगर वे उनसे सुनते नहीं। वे जानवरों की तरह हैं, बल्कि उनसे भी ज़्यादा गए-गुज़रे, ये वे लोग हैं जो ग़फ़लत में खोए हुए हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-179)

तीसरी शर्त यह है कि उसकी तबीयत (स्वभाव) ऐसी सच्ची और पाकीज़ा हो कि वह समाज के असरात (प्रभावों), बाप-दादा की तरबियत और ख़ानदानी और क़ौमी परम्पराओं से मुतास्सिर न हो और इन सब परदों को फाड़कर सच्चाई के नूर को साफ़-साफ़ देख ले। इस शर्त की कमी (अभाव) पहली दोनों शर्तों से ज़्यादा है। बड़े-बड़े इल्मवाले, अक़्लवाले, होशियार और सूझ-बूझ रखनेवाले लोगों को देखा है कि समाज और ख़ानदान के असर से आज़ाद नहीं हो सकते। जिस डगर पर माहौल ने उनको डाल दिया है, उसी पर चले जा रहे हैं और उसी को हक़ (सत्य) समझते हैं। क़ुरआन मजीद इसको भी गुमराही का अहम सबब बताता है। कहता है—

"तो वे (हक़ के इनकारी) जवाब देते हैं कि हमारे लिए तो बस वही तरीक़ा काफ़ी है, जिसपर हमने अपने बाप-दादा को पाया है। क्या ये बाप-दादा ही की पैरवी किए चले जाएँगे, चाहे वे कुछ न जानते हों और सही रास्ते की उन्हें ख़बर ही न हो?"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-104)

चौथी शर्त यह है कि इनसान में हक़-पसन्दी और उसके साथ इरादे की ताक़त इतनी ज़बरदस्त हो कि वह ख़ुद अपने मन की इच्छाओं और रुझानों का मुक़ाबला कर सके। क्योंकि मन की इच्छा (ख़ाहिशे-नफ़्स) पहले तो हक़ को पहचानने ही में रुकावट बनती है, और अगर कोई आदमी हक़ को पहचान भी ले तो वह उसको अपने इल्म के मुताबिक़ अमल करने से रोकती है, क़दम-क़दम पर रोक लगाती है। इनसान के मन में यह ऐसी ज़बरदस्त क़ुव्वत है जो अकसर उसकी अक़्ल और समझ-बूझ पर छा जाती है और कभी-कभी उसको जानते-बूझते ग़लत रास्तों पर भटका देती है। आम आदमी तो दरकिनार बड़े-बड़े लोग भी जो अपने इल्मो-फ़ज़्ल और अपनी अक़्ल, दूर-अन्देशी (दूरदर्शिता) और गहरी समझ-बूझ के लिहाज़ से सबसे ऊँचे मक़ाम पर होते हैं, इस रहज़न (बटमार) की शरारतों से बचने में कामयाब नहीं हो सकते। इस चीज़ को क़ुरआन मजीद में भी गुमराही की सबसे बड़ी वजह ठहराया गया है। कहा—

"और उस आदमी से बढ़कर कौन गुमराह होगा जो ख़ुदा की हिदायत के बग़ैर बस अपनी ख़ाहिशों की पैरवी करे।"

(क़ुरआन, सूरा-28 क़सस, आयत-50)

उससे बढ़कर गुमराह (पथभ्रष्ट) कौन होगा जिसने अल्लाह की तरफ़ से आई हुई हिदायत को छोड़कर अपने मन की ख़ाहिशों की पैरवी की–

"फिर क्या तुमने उस आदमी के हाल पर भी ग़ौर किया, जिसने अपने मन की ख़ाहिशों को अपना ख़ुदा बना लिया और अल्लाह ने इल्म के बावजूद उसे गुमराही में फेंक दिया और उसके दिल और कानों पर मुहर लगा दी और उसकी आँखों पर परदा डाल दिया।"

(क़ुरआन, सूरा-45 जासिया, आयत-23)

और-तो-और कभी-कभी पैग़म्बरों तक को इस शरारती मन की रहज़नी के ख़तरे पेश आए हैं। इसी लिए दाऊद (अलैहि॰) जैसे महान पैग़म्बर को एक मौक़े पर ख़बरदार किया गया है–

"और अपने मन की ख़ाहिशों की पैरवी न कर कि वह तुझे अल्लाह के रास्ते से भटका देगी।" (क़ुरआन, सूरा-38 साद, आयत-26)

आख़िरी शर्त यह है कि इनसान की विजदानी (अन्तर्ज्ञान सम्बन्धी) क़ुव्वतें बेदार हों, उसके ज़ेहन का साँचा ऐसा हो कि सही और हक़ बात सोचने और समझने के लिए ग़ौर-फ़िक्र और अक़्ली दलीलों का ज़्यादा मुहताज न हो, बल्कि फ़ितरी तौर पर वह ग़लत बात को क़बूल करने से इनकार कर देता हो और सुबूत और दलील के बग़ैर सिर्फ़ अन्तर्ज्ञान (Intution) की ताक़त से सच्ची और हक़ बात तक पहुँच जाए। यह शर्त सबसे ज़्यादा सख़्त मगर ख़ुदा की पहचान और उस तक पहुँच बनाने के लिए सबसे ज़्यादा अहम (महत्वपूर्ण) है। इनसान का मुशाहदा चाहे कितना ही सही हो, ग़ौर-फ़िक्र, अक़्ल और सूझ-बूझ से काम लेने की ताक़त उसके अन्दर चाहे कितनी ही फ़ायदा देनेवाली हो और दूसरों की पैरवी और मन की ख़ाहिशात की ग़ुलामी की ज़ंजीरों से वह कितना ही आज़ाद हो, लेकिन जो हक़ीक़तें उसके हवास (एहसास) की पहुँच से बाहर हैं, और जिनकी गहराई पर उसकी अक़्ल पूरी तरह हावी होने की सलाहियत नहीं रखती,

उनका इल्म और यक़ीनी इल्म इनसान को सिर्फ़ निशानों के मुशाहदे और सेर्फ़ आज़ादाना सोच-विचार की बदौलत हासिल नहीं हो सकता। वह उन हक़ीक़तों के क़रीब तक पहुँच सकता है, उनको समझ नहीं सकता। वह अक़्ल के ज़ोर पर ज़्यादा-से- ज़्यादा यह कह सकता है कि शायद ऐसा हो, यक़ीनन ऐसा हो, या ज़्यादा-से-ज़्यादा यह कि ऐसा होना चाहिए। लेकिन सेर्फ़ अक़्ल का इस्तेमाल उसके अन्दर इतनी ताक़त नहीं जुटा सकता कि वह पूरे यक़ीन के साथ कह सके कि सच में ऐसा है और यही हक़ीक़त और सच्चाई है और इसके अलावा जो कुछ है बिलकुल ही झूठ और ग़लत है। यह पक्का और पुख़्ता यक़ीन और मुकम्मल ईमान की कैफ़ियत सिर्फ़ 'हदस' (विवेक और अन्तर्ज्ञान) से पैदा होती है। ख़ुदा की पहचान की आख़िरी मंज़िल में पहुँचकर ग़ौर-फ़िक्र और दलीलें काम नहीं देतीं। वहाँ बिजली की-सी रफ़्तार के साथ ज़ेहन में एक रौशनी उभरती है और वह एक ही पल में हक़ीक़त का मुशाहदा (अवलोकन) करा देती है, वैसा ही मुशाहदा जैसा कि हम अपनी आँखों से कोई दिखनेवाली चीज़ देख रहे हैं। इसी मुशाहदे पर भरोसा और यक़ीन की बुनियाद क़ायम होती है। उस वक़्त इनसान का अक़ीदा गुमान और अन्दाज़े और अटकल जैसी कमज़ोर और डगमगाती बुनियादों पर नहीं होता, बल्कि वह दिल की आँखों से देख करके एक ऐसी देखी-भाली बात पर ईमान लाता है जिसके सच होने में शक और शुब्हे और विरोधी पक्ष होने की सम्भावना का कोई सन्देह तक नहीं होता। इसी का नाम ख़ुदा की मुकम्मल पहचान (सम्पूर्ण बोध) है। और जब तक मारिफ़त (सत्य ज्ञान) का यह दर्जा हासिल न हो, इनसान न पूरा-पूरा ख़ुदा को पहचाननेवाला हो सकता है और न ख़ुदा के लिए उसकी बन्दगी ख़ालिस हो सकती है। लेकिन हदस (विवेक और अन्तर्ज्ञान) की यह रौशनी जिसपर ख़ुदा की पहचान का दारोमदार है, इनसान के अपने बस की नहीं। न वह इसकी हक़ीक़त से परिचित है, न इसको पैदा करने की उसके पास क़ुदरत है और न मेहनत और कोशिश से इसको हासिल किया जा सकता है। यह सिर्फ़ ख़ुदादाद (ईश-प्रदत्त) है, और यही वह चीज़ है जिसको क़ुरआन मजीद में 'नूरे-ख़ुदादाद' (ख़ुदा का अता किया हुआ नूर) और 'बुरहाने-रब' (ख़ुदा की सुझाई दलील) और 'हिदायते-इलाही' और 'तालीमे-ख़ुदावन्दी' वग़ैरा शब्दों

से ताबीर (परिभाषित) किया गया है। मिसाल के तौर पर कहा गया है–

"जिसे अल्लाह नूर न बख़्शे उसके लिए फिर कोई नूर नहीं।"
(क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-40)

यूसुफ़ (अलैहि॰) के बारे में कहा गया है–

"यूसुफ़ भी उसकी तरफ़ बढ़ता अगर अपने रब की खुली दलील न देख लेता।" (क़ुरआन, सूरा-12 यूसुफ़, आयत-24)

मुहम्मद (सल्ल॰) को हुक्म होता है–

"(ऐ नबी!) कहो : मेरे रब ने यक़ीनन मुझे सीधा रास्ता दिखा दिया है।" (क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-161)

मूसा (अलैहि॰) के बारे में कहा जाता है–

"जब मूसा अपनी पूरी जवानी को पहुँच गया और उसका नशो-नुमा मुकम्मल हो गया तो हमने उसे हुक्म और इल्म अता (प्रदान) किया।" (क़ुरआन, सूरा-28 क़सस, आयत-14)

अब इन पाँच शर्तों पर ग़ौर-फ़िक्र कीजिए। अगर आपको इनमें से किसी शर्त की ज़रूरत से इनकार है तो इनकार की वजह पेश की जाए, अगर किसी शर्त के बग़ैर इनसान हक़ीक़त और सच्चाई तक पहुँच सकता हो तो दलील पेश की जाए और अगर हक़ीक़त और सच्चाई तक पहुँचने के लिए इन पाँचों शर्तों का पूरा होना आपकी राय में लाज़िम है तो बताइए कितने लाख, नहीं कितने करोड़, बल्कि कितने अरब इनसानों में से एक में ये शर्तें इस कमाल के साथ पूरी होती हैं कि वह महान सर्वशक्तिमान ख़ुदा जैसी सूझ-बूझ की सीमा से परे हस्ती की कामिल पहचान हासिल कर सके? अगर आप तसलीम करते हैं कि इस तरह के क़ीमती लोग बहुत ही कम हैं तो फिर बताइए कि ख़ुदा के इन करोड़ों बन्दों का क्या हश्र हो जो इससे महरूम (वंचित) हैं या अगर यह ख़ूबी उनको हासिल भी है तो उस दर्जे में नहीं। क्या हर आदमी को उसके अधूरे साधनों के साथ छोड़ दिया जाए कि वह ख़ुद अपनी अन्धी आँखों, अपाहिज पैरों के साथ ख़ुद ही रास्ता टटोलकर चले, जिस चीज़ को चाहे 'नेक नीयती' के साथ ख़ुदा समझ ले, और जिस

तरह चाहे उसकी पूजा करे? अगर आपका यही ख़याल है तो आप क्यों नहीं कहते कि हर आदमी को अपनी बीमारी का इलाज अपने-आप करना चाहिए, किसी हकीम, डॉक्टर की ज़रूरत नहीं। हर आदमी को अपना रास्ता ख़ुद तलाश करना चाहिए, किसी से रास्ता पूछने और किसी को रास्ता बताने की ज़रूरत नहीं। हर आदमी को ख़ुद ही इल्म हासिल करना चाहिए, किसी उस्ताद और शिक्षक की ज़रूरत नहीं। क्या इस दुनिया का पूरा निज़ाम यूँ ही चल रहा है?

इनसान के सीमित ज़ेहन में इतनी समाई नहीं है कि सारे संसार की क़ाबलियतें एक वक़्त में एक ही आदमी में जमा हो जाएँ, यहाँ तक कि वह अपने हर काम में दूसरों की मदद से बेनियाज़ रहे। दूसरी तरफ़ इनसान की ज़रूरतें इतनी फैली हुई और तरह-तरह की हैं कि उनमें से हर एक के लिए ख़ास क़िस्म की क़ाबलियत दरकार है और ज़िन्दगी का हर विभाग अपने लिए अपनी हालत के मुताबिक़ सलाहियतें (योग्यताएँ) चाहता है। इसी वजह से अल्लाह ने मुख़्तलिफ़ इनसानी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मुख़्तलिफ़ लोगों को मुख़्तलिफ़ क़ाबलियतों के साथ पैदा किया है। किसी को तिब्ब (डॉक्टरी) से लगाव है और वह लोगों की तिब्बी ज़रूरतों को पूरा कर रहा है। किसी को क़ानून से लगाव है। किसी को तिजारत (व्यापार) से, किसी को खेती-बाड़ी से। किसी को उद्योग-धन्धों से, किसी को हुकूमत (सत्ता) और सियासत (राजनीति) से। और ये सब अपने-अपने शोबे (विभाग) में मानव-जाति के मुहताज हैं। ज़िन्दगी के हर विभाग के ख़ास मामलों में दूसरे सारे विभागों के लोग उसी ख़ास विभाग के आदमियों की तरफ़ रुजू करते हैं। जो आदमी इस निज़ाम को तोड़कर आप ही अपना डॉक्टर, अपना वकील, अपना किसान, अपना व्यापारी और अपना उद्योगपति व कारीगर बनने की कोशिश करेगा, वह चाहे कितनी ही 'नेक नीयती' के साथ इस हिमाक़त का करनेवाला हो, फ़ितरत के निज़ाम को तोड़ने का नतीजा बहरहाल ज़ाहिर होकर रहेगा और वह यक़ीनन नाकाम ज़िन्दगी बसर करेगा।

यह निज़ाम जिस तरह ज़िन्दगी के सारे मामलों में सही है, उसी तरह

मज़हब (धर्म) के मामलों में भी सही है। यहाँ भी हर आदमी वह ख़ास क़ाबलियत (योग्यता) नहीं रखता है जो माबूद (पूज्य-प्रभु) को पहचानने और सही तरीक़े से उसकी इबादत करने के लिए ज़रूरी है। यह क़ाबलियत भी ख़ास-ख़ास लोगों को दी गई है। उन्होंने माबूद (पूज्य-प्रभु) को पहचाना है और उसकी निशानियाँ खोल-खोलकर बयान कर दी हैं। उसकी इबादत और बन्दगी का सही तरीक़ा खोजा है और उसको बता भी गए हैं। अक़्लमन्द इनसान का काम है कि उस विभाग में उसी विभाग के माहिरों पर भरोसा करे, जैसी तालीम उन्होंने दी है उसको दिल और रूह में जगह दे, और बन्दगी के जो तरीक़े उन्होंने अपने क़ौल-अमल (करनी-कथनी) से बता दिए हैं उसी की पैरवी करे। वह बेशक इस मामले में भी अपनी अक़्ल को इस्तेमाल कर सकता है। लेकिन यहाँ अक़्ल के इस्तेमाल की सही सूरत यह नहीं है कि वह खुद अपनी अधूरी ताक़तों और अपने सीमित संसाधनों पर भरोसा करके रास्ता ढूँढ़ने की कोशिश करे और जो रास्ता अपने नज़दीक सही मालूम हो उसपर चलने लगे। बल्कि इसकी सही सूरत यह है कि वह अपने लिए सही रहनुमा (मार्गदर्शक) तलाश करे और जो लोग मज़हब के मैदान में रहनुमाई के दावेदार हैं उन सबकी सीरतों (जीवन-चरित्रों) और उनकी शिक्षाओं पर अपनी हद तक एक तहक़ीक़ी नज़र डालकर मालूम करे कि उनमें से कौन ज़्यादा बेहतर और सही रास्ता दिखानेवाला है, किसकी ज़ात में वे पाँचों शर्तें अन्तिम दर्जे तक पूरी हो गई हैं जो हिदायत हासिल होने के लिए ज़रूरी हैं और किसकी तालीम सबसे ज़्यादा अमल के क़ाबिल है। इस इम्तिहान पर जो आदमी पूरा उतरे उसकी शिक्षा को मान लेना चाहिए और उसके इत्तिबा (पैरवी) की कोशिश करनी चाहिए।

इस माक़ूल (बुद्धिसंगत) तरीक़े को छोड़कर जो आदमी ग़ैर-माक़ूल तरीक़ा अपनाएगा वह चाहे कितना ही 'नेक-नीयत' हो, हर हाल में वह अपनी ग़लती के बुरे नतीजे ज़रूर देखेगा। ग़लती चाहे 'नेक-नीयती' से की जाए या 'बदनीयती' से, इसकी ज़िम्मेदारी और इसके वबाल से इनसान बच नहीं सकता। जो आदमी बीमार हो और माहिर डॉक्टर को तलाश करने और उसपर भरोसा करने के बजाय अपने नाक़िस और अधूरे इल्म पर भरोसा

ारके ख़ुद अपना इलाज करने लगे तो वह अपनी इस ग़लती का नतीजा ज़रूर भुगतेगा, चाहे उसने यह ग़लती कितनी ही 'नेक-नीयती' से की है। जो आदमी क़ानून के मामले में क़ानून के माहिर को छोड़कर ख़ुद अपनी खोटी राय पर अमल करेगा वह अपनी हिमाक़त के नतीजे से न बच सकेगा चाहे उसने यह हरकत इन्तिहाई 'नेक-नीयती' के साथ की हो। ग़लती हर हाल में ग़लती है और हर ग़लती के जो फ़ितरी (स्वाभाविक) नतीजे मुक़र्रर हैं वे हर हाल में ज़ाहिर होकर रहते हैं। अलबत्ता 'बदनीयती' से एक जुर्म का इज़ाफ़ा और हो जाता है।

अब मैं उन आयतों की तरफ़ तवज्जोह करता हूँ जो आपने अपने नज़रिए की ताईद में पेश फ़रमाई हैं। इस सिलसिले में सबसे पहले इस आम क़ायदे को समझ लीजिए कि किसी मसले में क़ुरआन मजीद से दलील देने के लिए एक-दो आयतों को छाँटकर निकाल लेना कोई सही तरीक़ा नहीं है बल्कि इसके लिए पूरे क़ुरआन पर नज़र डालनी ज़रूरी है ताकि मसले के सारे पहलू सामने आ जाएँ। आप अच्छी तरह जानते हैं कि क़ुरआन मजीद कोई मुसलसल लिखी किताब नहीं है जिसमें तरतीब के साथ हर-हर मसले को एक-एक जगह तफ़सील के साथ बयान किया गया हो, बल्कि यह मजमूआ (संग्रह) है उन आयतों का जो तेईस (23) साल की लम्बी मुद्दत (अवधि) में मौक़े और ज़रूरत के लिहाज़ से समय-समय पर उतरती रही हैं। यही वजह है कि इस्लाम के जितने बड़े-बड़े मसले हैं वे सब किसी एक जगह अपनी पूरी-पूरी तफ़सीलों के साथ बयान नहीं कर दिए गए हैं, बल्कि पूरे क़ुरआन में फैले हुए हैं और मुख़्तलिफ़ आयतों में मौक़ा-महल के लिहाज़ से उनके मुख़्तलिफ़ पहलुओं पर रौशनी डाली गई है। तो अगर आप पैग़म्बरी के मसले में क़ुरआन की तालीम ठीक-ठीक मालूम करना चाहते हैं तो पूरे क़ुरआन मजीद पर मजमूई नज़र डालिए। एक-दो आयतों को छाँटकर सिलसिले से अलग करेंगे तो ग़लतफ़हमी में पड़ जाएँगे।

इस क़ायदे के मुताबिक़ जब आप क़ुरआन को पढ़ेंगे तो आपको मालूम होगा कि क़ुरआन का दावा हरगिज़ यह नहीं है कि हर आदमी आप अपना रास्ता तलाश करने के लिए आज़ाद है और हर रास्ता जिसको वह 'नेक-

नीयती' के साथ ठीक समझता है वही हक़ीक़त में भी सही है। क़ुरआ कहता है कि अल्लाह तआला ने जिस वक़्त आदम की औलाद को ज़मी पर उतारा था उसी वक़्त उसने उनको सीधा रास्ता बताने का काम ख़ अपने ज़िम्मे ले लिया था और उनसे साफ़-साफ़ कह दिया था कि तुम्हा नजात (मोक्ष) की सूरत बस यही है कि मेरी तरफ़ से जो हिदायत तुम्हें पहुँ उसकी पैरवी करो–

> "फिर जो मेरी तरफ़ से कोई हिदायत तुम्हारे पास पहुँचे तो जो लोग मेरी उस हिदायत की पैरवी करेंगे, उनके लिए किसी डर और रंज (दुख) का मौक़ा न होगा। और जो उसको क़बूल करने से इनकार करेंगे और हमारी आयतों को झुठलाएँगे वे आग में जानेवाले हैं, जहाँ वे हमेशा रहेंगे।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-38,39)

फिर ख़ुदा ने यह भी कह दिया था कि यह हिदायत हर आदमी के पा अलग-अलग नहीं भेजी जाएगी। बल्कि मैं ख़ुद तुम्हीं में से कुछ लोगों व चयन करूँगा और उनपर अपनी हिदायतें उतारूँगा और उनको तुम्हारे पा पैग़म्बर बनाकर भेजूँगा। हर वह आदमी जो मेरे पैग़म्बर को और उसके ला हुए पैग़ाम को सच्चे दिल से मानेगा वही हिदायत पाएगा–

> "ऐ आदम की औलाद! याद रखो, अगर तुम्हारे पास ख़ुद तुम्हीं में से ऐसे पैग़म्बर आएँ, जो तुम्हें मेरी आयतें सुना रहे हों तो जो कोई नाफ़रमानी से बचेगा और अपने रवैये का सुधार कर लेगा, उसके लिए किसी डर और रंज का मौक़ा नहीं है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-35)

जो मेरे पैग़म्बरों को न मानेगा वह इसकी सज़ा पाएगा–

> "उनमें से हर एक ने पैग़म्बरों को झुठलाया और मेरे अज़ाब का

1. वाज़ेह (स्पष्ट) रहे कि पैग़म्बरों को झुठलाना यही है कि उनके पैग़म्बरी के दावे को मान से इनकार किया जाए। यह इनकार चाहे 'नेक-नीयती' से हो या 'बदनीयती' से, ह हाल में इनकार ही है। अलबत्ता बदनीयती की सूरत में इनकार की ज़िम्मेदारी ज़्याद बढ़ जाती है। जो आदमी ग़लत रास्ते को सही समझकर अपनाए वह गुमराह है। औ जो सही जानते हुए ग़लत रास्ते पर चले वह गुमराही के साथ सज़ा का हक़दार भी है

फ़ैसला उसपर लागू होकर रहा।"[1] (क़ुरआन, सूरा-38 साद, आयत-14)

और जब क़ियामत के दिन उसको अज़ाब दिया जाएगा तो उससे कहा जाएगा कि क्या तुम्हारे पास पैग़म्बर नहीं आए थे और उन्होंने तुमको ख़ुदा की आयतें नहीं सुना दी थीं और इस दिन के अंजाम से आगाह नहीं कर दिया था—

"क्या तुम्हारे पास तुम्हारे अपने लोगों में से ऐसे पैग़म्बर नहीं आए थे, जिन्होंने तुमको तुम्हारे रब की आयतें सुनाई हों और तुम्हें इस बात से डराया हो कि एक वक़्त तुम्हें यह दिन भी देखना होगा।"
(क़ुरआन, सूरा-39 ज़ुमर, आयत-71)

इसके साथ ही क़ुरआन मजीद साफ़ कहता है कि जो आदमी अल्लाह के पैग़म्बरों को न माने उसके लिए अल्लाह को मानना हरगिज़ फ़ायदेमन्द नहीं है—

"जो लोग अल्लाह और उसके पैग़म्बरों से इनकार का रवैया अपनाते हैं और चाहते हैं कि अल्लाह और उसके पैग़म्बरों के बीच फ़र्क़ करें और कहते हैं कि हम किसी को मानेंगे और किसी को न मानेंगे और इनकार व ईमान के बीच में एक रास्ता निकालने का इरादा रखते हैं, वे सब हक़ के इनकारी हैं।"
(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयतें-150,151)

क़ुरआन के नज़दीक ईमानवाला वही है जो अल्लाह के साथ उसके रसूल पर भी ईमान लाए—

"सच्चे ईमानवाले अस्ल में वही हैं जो अल्लाह और उसके पैग़म्बर को दिल से मानें।" (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-62)

और जो आदमी पैग़म्बर के ज़रिए से हिदायत का रास्ता वाज़ेह (साफ़) हो जाने के बाद भी उसको अपनाने से इनकार करे वह जहन्नम से बच नहीं सकता। इस मामले में 'नेक-नीयती' और 'बद-नीयती' का कोई सवाल नहीं है—

"मगर जो आदमी पैग़म्बर की मुख़ालिफ़त करने पर कमर कस ले

और ईमानवालों की रविश (तरीक़े) के सिवा किसी और रविश पर चले, जबकि उसपर सीधी राह स्पष्ट हो चुकी हो तो उसको हम उसी तरफ़ चलाएँगे, जिधर वह ख़ुद फिर गया। और उसे जहन्नम में झोकेंगे, जो बहुत बुरी रहने की जगह है।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-115)

यह बात क़ुरआन मजीद के उसूल से है और क़ुरआन में आप कहीं ऐसी बात नहीं पा सकते जो इसके ख़िलाफ़ हो। आपने जिन आयतों को उनके संदर्भ (मौक़ा-महल) से अलग करके पेश किया है वे देखने में आपको इसके बरख़िलाफ़ मालूम होती हैं। लेकिन अगर आप सूरा-3 आले-इमरान को छठे रुकूअ़ से लेकर बारहवें रुकूअ़ तक लगातार पढ़ें तो तनाक़ुज़ (इख़्तिलाफ़) का निशान भी न रहेगा। छठे रुकूअ़ में पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) को ख़िताब करके कहा गया है–

"अस्ल हक़ीक़त है, जो तुम्हारे रब की तरफ़ से बताई जा रही है, और तुम उन लोगों में शामिल न हो जो इसमें शक करते हैं। यह इल्म आ जाने के बाद अब जो कोई इस मामले में तुमसे झगड़ा करे तो (ऐ नबी!) उससे कहो कि आओ हम और तुम ख़ुद भी आ जाएँ और अपने-अपने बाल-बच्चों को भी ले आएँ और ख़ुदा से दुआ करें।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयतें-60,61)

इसके बाद मुहम्मद (सल्ल॰) को हुक्म दिया गया कि किताबवालों को एक सीधी और साफ़ बात यानी ख़ालिस तौहीद (एकेश्वरवाद) की तरफ़ दावत दो और उनसे कहो कि इबराहीम (अलैहि॰) जिनके बारे में तुम झगड़ते हो वे यहूदी या ईसाई न थे, बल्कि वे ख़ालिस तौहीद-परस्त थे, और उनके साथ सच्चा ताल्लुक़ वही लोग रखते हैं जो उनकी पैरवी करते हैं। फिर कहा जाता है कि सभी पैग़म्बरों से (और पैरवी के साथ उनकी उम्मतों से) हमेशा यह अहद (वचन) लिया जाता रहा है कि हर पैग़म्बर जो ख़ुदा की तरफ़ से तुम्हारी किताबों की तसदीक़ (पुष्टि) करने के लिए आए, उसपर ईमान लाना और उसकी मदद करना। इस अहद से जो लोग फिर जाएँ वे नाफ़रमान हैं। आगे चलकर कहा जाता है कि इबराहीम (अलैहि॰), इसमाईल (अलैहि॰),

इसहाक़ (अलैहि॰), मूसा (अलैहि॰), ईसा (अलैहि॰) और दूसरे नबियों पर जो कुछ उतरा है उस सबपर ईमान लाओ। यही इस्लाम है, और जो आदमी इस इस्लाम के सिवा किसी और दीन का तालिब हो उसका वह दीन (धर्म) हरगिज़ क़बूल न होगा और वह आख़िरत (परलोक) में नुक़सान उठाएगा—

"इस फ़रमाँबरदारी (इस्लाम) के सिवा जो आदमी कोई और तरीक़ा अपनाना चाहे, उसका वह तरीक़ा हरगिज़ क़बूल न किया जाएगा और आख़िरत में वह नाकाम और नामुराद (असफल) रहेगा।"
(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-85)

आख़िर में किताबवालों के बारे में कहा जाता है—

"ये किताबवाले ईमान लाते तो इन्हीं के हक़ में अच्छा था। अगरचे उनमें कुछ लोग ईमानवाले भी पाए जाते हैं, मगर उनके ज़्यादातर लोग नाफ़रमान हैं।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-110)

इस आयत से साफ़ ज़ाहिर है कि यहाँ ईमान से मुराद पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) पर ईमान है। क्योंकि जो लोग 'किताबवाले' हैं वे मूसा या ईसा (अलैहि॰) को या दोनों को और उनकी लाई हुई किताबों को मानते हैं और खुदा के भी क़ाइल हैं।

आख़िरी आयत जो सूरा-57 हदीद से आपने नक़ल की है, उसमें उन सारे लोगों को जो पिछले पैग़म्बरों पर ईमान ला चुके हैं, दो चीज़ों की दावत दी गई है। एक यह कि ख़ुदा से डरें और परहेज़गारी अपनाएँ, दूसरी यह कि ख़ुदा के पैग़म्बर यानी मुहम्मद (सल्ल॰) पर ईमान लाएँ। फिर फ़रमाया कि अगर तुम ये दोनों बातें अपना लोगे तो तुमको ख़ुदा की रहमत (दयालुता) के दो हिस्से मिलेंगे, यानी एक हिस्सा पिछले पैग़म्बरों पर ईमान और परहेज़गारी के बदले में और दूसरा हिस्सा मुहम्मद (सल्ल॰) पर ईमान लाने के बदले में। इससे मालूम होता है कि जो लोग ख़ुदा का डर और परहेज़गारी के साथ पिछले पैग़म्बरों पर ईमान रखते हैं और उनकी दी हुई तालीम (शिक्षा) पर ठीक-ठीक अमल करनेवाले हैं उनको भी ख़ुदा की रहमत का कुछ-न-कुछ हिस्सा मिलेगा। इसका समर्थन दूसरी आयतों से भी होता है।

मिसाल के तौर पर—

"जो लोग किताब की पाबन्दी करते हैं और जिन्होंने नमाज़ क़ायम कर रखी है, यक़ीनन ऐसे नेक किरदार लोगों का बदला हम बरबाद नहीं करेंगे।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-170)

"ऐ किताबवालो! तुम हरगिज़ किसी अस्ल पर नहीं हो, जब तक तौरात और इनजील और उन दूसरी किताबों को क़ायम न करो, जो तुम्हारी तरफ़ तुम्हारे रब की तरफ़ से उतारी गई हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-68)

"भला यह किस तरह मुमकिन है कि वह आदमी जो तुम्हारे रब की इस किताब को जो उसने तुमपर उतारी है हक़ (सत्य) जानता है और वह आदमी जो उस हक़ीक़त की तरफ़ से अन्धा है, दोनों बराबर हो जाएँ?" (क़ुरआन, सूरा-13 रअ्द, आयत-19)

और यह भी तो कहा गया है कि जो लोग पिछली किताबों का सही इल्म रखते हैं वे जानते हैं कि क़ुरआन मजीद ख़ुदा की तरफ़ से आया है और बरहक़ है—

"जिन लोगों को हमने (तुमसे पहले) किताब दी थी, वे जानते हैं कि यह किताब तुम्हारे रब ही की तरफ़ से हक़ के साथ नाज़िल (अवतरित) हुई है।" (क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-114)

इसी लिए इन दोनों मज़मूनों (लेखों) की आयतों को मिलाने से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि जो लोग जहालत और अन्धेपन के सबब पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के सच्चे नबी होने के क़ायल नहीं हैं, मगर पिछले पैग़म्बरों पर ईमान रखते हैं और साफ़-सुथरी और परहेज़गारी की ज़िन्दगी बसर करते हैं उनको अल्लाह की रहमत का इतना हिस्सा मिलेगा कि उनकी सज़ा में कुछ कमी हो जाएगी। और इसका इल्म तो अल्लाह ही को है।

(तर्जुमानुल-क़ुरआन, जुमादल-ऊला, 1353 हि०/सितम्बर, सन्-1934 ई०)

■■

(2)

पैग़म्बर पर ईमान

पिछले लेख को देखकर वही साहब जिनके सवाल करने पर वह लेख लिखा गया था, फिर लिखते हैं–

पैग़म्बरी पर ईमान के बारे में आपका आलिमाना तबसिरा (समीक्षा) पढ़कर बहुत ख़ुशी हुई। मेरे नाक़िस ख़याल में एक-दो पहलू अभी भी हल (Solution) चाहते हैं जो मुख़्तसर तौर पर निम्नलिखित हैं–

(1) आप कहते हैं कि "इनसान की फ़ितरत (प्रकृति) में ख़ुदा की पहचान और उसके लिए बन्दगी के ख़ुलूस की ताक़त मौजूद है...लेकिन इस प्राकृतिक क्षमता के क़ुव्वत से क्रिया में आने के लिए कुछ शर्तें हैं और थोड़े सोच-विचार से यह मालूम हो सकता है कि ये शर्तें हर आदमी में पूरी नहीं होतीं।"

इसके बाद उन शर्तों को तफ़सील (विस्तार) से बयान किया गया है। उसके बारे में अर्ज़ यह है कि अल्लाह कहता है–

"अल्लाह किसी इनसान पर उसकी ताक़त से बढ़कर ज़िम्मेदारी का बोझ नहीं डालता।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-286)

इस आयत के मुताबिक़ हर आदमी पर उसके इल्म और फ़िक्र (ज्ञान एवं विचार) की गहराई तक ही बोझ डाला गया है, जैसा कि शुरू सवाल तक बयान हुआ है। अगर तरबियत, माहौल और ज़ाती क़ुव्वत शर्तों के पूरा करने में रुकावट हैं तो इस कमी की ज़िम्मेदारी उस मुतजस्सिस (जिज्ञासु) पर क्यों आए? तरीक़े के चुनाव में उसने अपनी सलाहियत के मुताबिक़ सूझ-बूझ और अक़्ल से काम लिया है और इसी हद तक उसपर बोझ डाला गया था। उसको आरोपी और अज़ाब का हक़दार ठहराना ज़ाहिर में एक ऐसा बोझ उसपर डालना है जिसको सिहारने की ताक़त उसमें न हो।

(2) जनाब कहते हैं कि "क़ुरआन मजीद कोई मुसलसल लिखी गई किताब नहीं है, जिसमें तरतीब के साथ हर मसले को एक-एक जगह तफ़सील के साथ बयान किया गया हो, बल्कि यह मज़मूआ है उन आयतों का जो 23 साल की लम्बी मुद्दत में मौक़े और ज़रूरत के लिहाज़ से समय-समय पर नाज़िल (अवतरित) होती रही हैं।" मगर फिर भी कहा जाता है कि "सूरा-3 आले- इमरान को छठे रुकूअ़ से बारहवें रुकूअ़ तक मुसलसल पढ़ा जाए, ताकि तनाक़ुज़ और बेमेल बातों का मामूली शक तक न रहे।" सवाल भेजने से पहले भी पढ़ा था और दोबारा भी उन सब आयतों को पढ़ा है, मगर मुश्किल दूर नहीं होती। किताबवालों के झगड़ों, ज़िद, शिर्क वग़ैरा को देखकर एक मुअ़्तदिल (सन्तुलित) रविश (नीति) की तरफ़ दावत दी गई थी—

"आओ एक ऐसी बात की तरफ़, जो हमारे और तुम्हारे बीच एक समान है।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-164)

इन बातों और इस दावत का क्या मतलब और मक़सद था? ज़ाहिर में तो यही है कि तुम अगर अपनी सच्ची तालीम पर अमल करोगे और शिर्क छोड़ दोगे तो अल्लाह की तरफ़ दावत देने के मुश्तरक (सम्मिलित) काम में तुम और हम बराबर होंगे। दिल नहीं मानता कि ये शब्द यूँ ही रस्मी तौर पर वक़्त को टालने या इलज़ाम को दूर करने के लिए कहे गए और हक़ीक़त में अमल में साझेदारी और दावत मक़सूद (अपेक्षित) न थी।

(3) सवाल लिखते वक़्त ज़ेहन में किताबवाले ही थे और बयान की गई आयतें इसी लिए गवाही के तौर पर पेश की गई थीं, जहाँ कहीं किताबवालों के उस गरोह की तारीफ़ की गई है जो दियानतदार थे, ख़ुदातरस थे, अमानतदार थे, रात के इबादतगुज़ार थे, कुछ मफ़स्सिरों (टीकाकारों) ने इसकी वही व्याख्या की है जिसकी तरफ़ आप गए हैं कि यह वह गरोह है जो मुसलमान हो चुका था जैसे कि अब्दुल्लाह-बिन-सलाम, सअ़्लबा और नजरान के अनसारी वग़ैरा, मगर अफ़सोस कि इससे तसल्ली नहीं होती और न क़ुरआन के अलफ़ाज़ इसका साथ देते हैं। मिसाल के तौर पर—

"ये किताबवाले ईमान लाते तो इन्हीं के हक़ में बेहतर था। हालाँकि इनमें कुछ लोग ईमानवाले भी पाए जाते हैं, मगर इनके ज़्यादातर लोग नाफ़रमान हैं।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-110)

इस आयत के तर्जमे (अनुवाद) में आप कहते हैं कि इनमें से थोड़े ईमान लाए और ज़्यादातर नाफ़रमान हैं। ईमानवालों और फ़ासिक़ों दोनों को साथ-साथ ज़िक्र किया गया है और दोनों इस्में-फ़ाइल (Subject) हैं। इनमें से एक के मानी माज़ी (भूतकाल) के लेने और दूसरे के हाल (वर्तमानकाल) के, और फिर 'मिनहुम' और 'अक्सरुहुम' के मतलब को तय न करना तसल्ली-बख़्श नहीं। (किसी सोच-विचार करनेवाले से कोई चीज़ छिपी नहीं रहती।) मगर दूसरी आयतें अधिक स्पष्ट हैं जिनमें ऐसी तावील (स्पष्टीकरण) की गुंजाइश ही नहीं और जिनका तर्जमा जनाब ने नहीं किया। यानी—

"मगर सारे किताबवाले एक जैसे नहीं हैं, उनमें कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सीधे रास्ते पर क़ायम हैं, और रातों को अल्लाह की आयतें पढ़ते हैं और उसके आगे सजदे करते हैं, और आख़िरत के दिन पर ईमान रखते हैं, नेकी का हुक्म देते हैं, बुराइयों से रोकते हैं और भलाई के कामों में सरगर्म रहते हैं। ये नेक लोग हैं। और जो नेकी भी ये करेंगे, उसकी नाक़द्री न की जाएगी, अल्लाह परहेज़गार लोगों को ख़ूब जानता है।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयतें-113 से 115)

इसका समर्थन क़ुरआन मजीद की उस आयत से भी होता है जिसमें ईसाइयों की तारीफ़ (प्रशंसा) की गई है कि उनमें दीनदार गरोह है और वे घमंडी नहीं हैं। अगर बयान की गई आयत में वही लोग मुराद होते जो जनाब ले रहे हैं तो क़ुरआन की सुन्दर वर्णन-शैली (फ़साहत और बलाग़त) को नज़र में रखते हुए अलफ़ाज़ दूसरे होते।

(4) "ऐ लोगो जो ईमान लाए हो! अल्लाह से डरो और उसके पैग़म्बर पर ईमान लाओ, अल्लाह तुम्हें अपनी रहमत का दोहरा हिस्सा देगा।" (क़ुरआन, सूरा-57 हदीद, आयत-28)

इस आयत के बारे में जनाब फ़रमाते हैं कि "इसमें तमाम लोगों को जो पिछले नबियों पर ईमान ला चुके हैं, दो चीज़ों की दावत दी गई है। एक यह कि ख़ुदा से डरें और परहेज़गारी अपनाएँ, दूसरे यह कि ख़ुदा के पैग़म्बर यानी मुहम्मद (सल्ल०) पर ईमान लाएँ।" फिर फ़रमाया गया कि अगर तुम ये दोनों बातें अपना लोगे तो तुमको ख़ुदा की रहमत के दो हिस्से मिलेंगे, यानी एक हिस्सा पिछले पैग़म्बरों पर ईमान और परहेज़गारी के बदले में और दूसरा हिस्सा मुहम्मद (सल्ल०) पर ईमान लाने के बदले में। इससे मालूम होता है कि जो लोग तक़वा और परहेज़गारी के साथ पिछले नबियों पर ईमान रखते हैं और उनकी दी हुई तालीम पर ठीक-ठीक अमल भी करते हैं उनको भी ख़ुदा की रहमत का एक हिस्सा मिलेगा। इसका समर्थन (ताईद) दूसरी आयतों से भी होता है। मिसाल के तौर पर—

> "जो लोग किताब की पाबन्दी करते हैं और जिन्होंने नमाज़ क़ायम कर रखी है, यक़ीनन ऐसे नेक किरदार लोगों का अज्र हम बरबाद नहीं करेंगे।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-170)

मगर इन सब आयतों को मिलाकर जो नतीजा आपने मज़मून (लेख) के आख़िर में निकाला है वह हैरतंगेज़ है। यानी "उनको अल्लाह की रहमत का सिर्फ़ इतना हिस्सा मिलेगा कि उनकी सज़ा में कमी हो जाएगी।" (यह तो वही मिसाल हुई कि) "तेली भी किया और रूखा भी खाया।"

कम इल्मी (सूक्ष्म ज्ञान) की वजह से ये शक सूझे हैं। अगर जनाब और दूसरे दीन के आलिम और ज़्यादा तवज्जोह देकर इन शकों को दूर करेंगे तो इन-शा-अल्लाह (अल्लाह ने चाहा) लोगों के नज़दीक शुक्रिया के पात्र और अल्लाह के नज़दीक़ अच्छे बदले के हक़दार होंगे।

जवाब

आपने जो एतिराज़ किए हैं उन सबके जवाब मुख़्तसर तौर पर ये हैं—

1. आपकी दलीलों को अगर सही मान लिया जाए तो इससे न सिर्फ़ पैग़म्बरी का इनकार करनेवालों को लाज़िमी तौर पर हक़ पर तसलीम करना पड़ेगा बल्कि हर आदमी के मसलक (पंथ) को उसकी हद तक सही मान लेना

लाज़िम आएगा चाहे वह मुशरिक (बहुदेववादी) हो या नास्तिक या कोई और। क्योंकि जब हर आदमी अपने इल्म की मालूमात और सोच की हद तक मुकल्लफ़ (पाबन्द) है और हक़ (सत्य) की तलाश में ग़लती या कोताही की ज़िम्मेदारी उसपर कुछ नहीं है तो जिस तरह वह मुवह्हिद (एकेश्वरवादी) आरोपी और अज़ाब का हक़दार नहीं है जो सोच-विचार के बावजूद पैग़म्बरी में 'नेक-नीयती' के साथ शक रखता है, उसी तरह वह मुशरिक (बहुदेववादी) भी किसी सज़ा का हक़दार नहीं होना चाहिए जो 'नेक-नीयती' के साथ किसी पत्थर या पेड़ या जानवर को ख़ुदा समझता है, और वह नास्तिक भी किसी सज़ा का हक़दार नहीं होना चाहिए जो सिरे से ख़ुदा ही के वुजूद में 'नेक-नीयती' के साथ शक रखता है। इसलिए कि ये सब भी तो अपनी सोच-समझ और इल्म की मालूमात तक ही मुकल्लफ़ (पाबन्द) हैं और इनके इल्म और सोच-समझ की पहुँच भी तो वहीं तक है, जहाँ तक ये पहुँचे हैं। इस क़ायदे को अगर तस्लीम कर लिया जाए तो ईमानवाला, ख़ुदा का इनकारी और मुशरिक (बहुदेववादी) का इख़्तिलाफ़ सरासर बकवास क़रार पाएगा और दीन के प्रचार-प्रसार के लिए सिरे से कोई अक़्ली बुनियाद ही बाक़ी न रहेगी। क्योंकि दीन जिन बातों की तरफ़ बुलाता है उनको अगर कोई आदमी अपनी सोच-समझ की कोताही की वजह से मगर 'नेक-नीयती' के साथ रद्द कर दे, तब भी वह हक़ पर ही रहेगा और अपने इस काम के लिए किसी आरोप या किसी सज़ा का हक़दार न होगा।

आप इस क़ायदे की बुनियाद इस आयत पर रखते हैं—

"अल्लाह किसी इनसान पर उसकी ताक़त से बढ़कर ज़िम्मेदारी का बोझ नहीं डालता।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-286)

लेकिन मैं कहता हूँ कि अगर इसका वही मतलब है जो आपने समझा है तो यह आयत क़ुरआन मजीद की पूरी तालीम के ख़िलाफ़ है, और इस सूरत में यह तसलीम करना लाज़िम आता है कि क़ुरआन ने दो परस्पर मुख़ालिफ़ उसूल पेश किए हैं। एक तरफ़ तो वह इनसान को ख़ुदा और उसके फ़रिश्तों और किताबों और पैग़म्बरों और आख़िरत पर ईमान लाने की दावत देता है और कहता है कि अगर तुम इन चीज़ों को न मानोगे तो हक़

के इनकारी होगे और तुमको आख़िरत में सज़ा दी जाएगी। दूसरी तरफ़ वही क़ुरआन (आपके गुमान के मुताबिक़) कहता है कि तुम सिर्फ़ अपने इल्म और सोच-समझ तक पाबन्द हो, अगर तुम्हारी सोच-समझ की पहुँच इन पाँचों ईमानवाली चीज़ों, या इनमें से किसी एक तक न हो, और इस ना पहुँच पानेवाली सोच-समझ की वजह से तुम एक या सबको मानने से इनकार भी कर दो, और इनके बरख़िलाफ़ कोई दूसरा अक़ीदा रखो, तब भी तुमपर कोई ज़िम्मेदारी नहीं है, और तुम किसी इलज़ाम या सज़ा के हक़दार नहीं हो। यक़ीन मानिए कि अगर क़ुरआन मजीद की तालीम में सचमुच इतना खुला और स्पष्ट विरोधाभास मौजूद होता तो कोई अक़्लवाला इनसान इसको ख़ुदा की किताब न मानता।

इस मुश्किल का वही हल है जो मैं अपने पहले मज़मून (लेख) में बयान कर चुका हूँ। अल्लाह तआला ने इनसान को यह तकलीफ़ ही नहीं दी है कि वह अपनी महदूद क़ुव्वतों से उसकी पहचान हासिल कर सके और उसकी बन्दगी का सही तरीक़ा पता लगाने की कोशिश करे। जिस ख़ुदा ने इनसान को बनाया है वह जानता है कि इनसान के इल्म की गहराई और सोच-समझ कहाँ तक है। उसको मालूम है कि आम इनसानों के सोचने-समझने की ताक़त और इल्म हासिल कर पाने की सलाहियत इतनी है ही नहीं कि वे उस बुलन्द मक़ाम तक उठान भर सकें जहाँ उस जैसी समझ से परे हस्ती की पहचान हासिल होती है। उसको यह भी मालूम है कि आम इनसान अपनी पैदाइशी कमज़ोरियों और माहौल के असरात से इस क़दर पाक-साफ़ और बरी नहीं हो सकते कि सिर्फ़ अपनी अक़्ल के इस्तेमाल से सिर्फ़ सारे जहान के ख़ुदा के लिए अपनी बन्दगी को ख़ालिस कर दें। इसलिए उसने इनकी सलाहियत और ताक़त से ज़्यादा इनपर तकलीफ़ का भार डाला ही नहीं। उसने तो ख़ुद इनसानों ही में से कुछ ख़ास आदमियों को चुन करके उन्हें सीधे रास्ते का इल्म दिया और उनको इस बात पर नियुक्त किया कि इनसानों को उसकी निशानियाँ खोल-खोलकर बताएँ और उसकी अक़्ल और समझ के मुताबिक़ उन्हें तालीम दें।

"ऐ आदम की औलाद! याद रखो, अगर तुम्हारे पास ख़ुद तुम ही

में से ऐसे रसूल आएँ जो तुम्हें मेरी आयतें सुना रहे हों तो जो कोई नाफ़रमानी से बचेगा और अपने रवैये का सुधार कर लेगा, उसके लिए किसी डर और रंज (दुख) का मौक़ा नहीं है।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-35)

फिर तकलीफ़ जो कुछ भी दी गई है वह इस बात की है कि इनसान ख़ुदा के भेजे हुए पैग़म्बरों की सीरत (जीवनी) और उनकी तालीम पर ग़ौर करे। और जब देखे कि वे जिस रास्ते की तरफ़ बुला रहे हैं उसमें उनकी कोई ज़ाती ग़रज़ नहीं है, न वे झूठ बोलनेवाले और धोखा देनेवाले लोग हैं, न किसी ऐसी बात की तरफ़ बुला रहे हैं जो तक़वा, परहेज़गारी और भलाई के ख़िलाफ़ हो, तो उनपर ईमान लाए और उनकी पैरवी करे। इस तकलीफ़ को उनके बस से बाहर का काम नहीं कहा जा सकता। अगर हिदायत को इनसान के इल्म और अक़्ल से इतना क़रीब कर देने के बाद भी कोई आदमी 'नेक-नीयती' या 'बद-नीयती' के साथ इसको क़बूल नहीं करता और उसके ख़िलाफ़ चलता है तो उसको अपनी इस कोताही का अंजाम ज़रूर देखना पड़ेगा।

आप फिर पलटकर कहेंगे कि अगर कोई आदमी अपनी इल्मी सलाहियत और सोच-समझ की हद तक पैग़म्बरों की सीरत और उनकी तालीम पर ग़ौर करने के बावजूद उनकी पैग़म्बरी पर मुत्मइन न हो सके तो इस सोच-समझ की कोताही और फ़िक्र की ना-रसाई पहुँच न बना पाने की उसपर कोई ज़िम्मेदारी नहीं और उसको इलज़ाम नहीं देना चाहिए और न ही उसे अज़ाब का हक़दार होना चाहिए। मैं अर्ज़ करूँगा कि जब कोई चीज़ इनसान के इनसान होने की हैसियत की हद तक अक़्ल और समझ से बाहर हो और कोई इनसान उस तक न पहुँचे तो वह अलबत्ता मजबूर है क्योंकि उस चीज़ की यह शान ही नहीं है कि इनसान उस तक पहुँच सके। लेकिन अगर कोई चीज़ उस हद के अन्दर हो और उसकी शान यह हो कि इनसान के इनसान होने की हैसियत से अपनी बशरी (मानवीय) क़ुव्वतों के साथ उस हद तक पहुँच सकता हो, और फिर कोई आदमी उस तक न पहुँचे तो यह दो हाल से ख़ाली न होगा, या तो इस ना-रसाई (पहुँच न बना पाने) में उसकी मन

की ख़ाहिशों का दख़ल होगा, या यह ना-रसाई ख़ालिस तौर पर उसकी समझ-बूझ की कोताही पर आधारित होगी। पहली सूरत में तो उसके मुजरिम होने में किसी को एतिराज़ नहीं हो सकता। रही दूसरी सूरत, तो आपको चाहे इस कम अक़्ल इनसान पर कितना ही रह्म आए, बहरहाल इससे आप इनकार नहीं कर सकते कि वह अपनी समझ-बूझ की कोताही से जिस नतीजे पर पहुँचा है, वह हक़ नहीं है और यह किसी तरह भी इनसाफ़ की बात नहीं कि जो हक़ (सत्य) तक नहीं पहुँचा है वह अंजाम के एतिबार से उन लोगों के बराबर हो जो हक़ तक पहुँच गए हैं।

इस बात से किसी को इनकार नहीं है कि हर आदमी जो कुछ सोचे और समझेगा अपने इल्म (ज्ञान) और सोच-समझ की हद तक ही सोचे और समझेगा। उस हद से आगे जाना उसके बस की बात नहीं है। मगर सवाल यह है कि क्या हक़ और सच्चाई हर आदमी की ज़ाती समझ-बूझ के मुताबिक़ बदलनेवाली चीज़ है, या एक तय चीज़ है चाहे कोई आदमी उसे समझे या न समझे? अगर आप पहली बात को मानते हैं तो मानो आप यह कहते हैं कि जैसे 30 और 50 का योग कोई ख़ास संख्या नहीं है, बल्कि हर आदमी अपनी हद तक सोच-विचार करने के बाद 'नेक नीयती' के साथ जिस संख्या पर भी पहुँच जाए वह सही योग है, चाहे वह 79 हो या 81 या 80, मगर यह ऐसी ग़ैर-माकूल बात है कि मुझे उम्मीद नहीं कि आप इस बात को मानें। इसलिए आपको यक़ीनी तौर पर दूसरी बात माननी पड़ेगी, यानी यह कि 30 और 50 का जोड़ बहरहाल 80 है, चाहे किसी के इल्म और समझ-बूझ की हद वहाँ तक पहुँचे या न पहुँचे। अब यह ज़ाहिर है कि जो आदमी 30 और 50 के जोड़ को 79 या 81 या कुछ और कहता है चाहे समझ की कोताही के बिना पर 'नेक-नीयती' के साथ ऐसा कहे या जान-बूझकर 'बद-नीयती' के साथ, दोनों सूरतों में उसका हिसाब ग़लत होगा, उसका अपना हिसाब उसकी ग़लती की वजह से आख़िर तक ग़लत हो जाएगा, और उसकी सारी मेहनत जो उसने हिसाब तैयार करने में लगाई है सब बेकार हो जाएगी। 'नेक-नीयती' और 'बद-नीयती' का कोई दख़ल हिसाब के सही होने या सही न होने में नहीं है, न यह हो सकता है कि 'नेक-

नीयती' के साथ ग़लत हिसाब लगानेवाले को उस आदमी के बराबर कर दिया जाए जिसने सही हिसाब लगाया है। हाँ, इतना ज़रूर होगा कि नेक-नीयत बेवक़ूफ़ को इतनी सज़ा न दी जाएगी जितनी बद-नीयत सरकश को दी जाएगी।

2. क़ुरआन मजीद की तरतीब के बारे में जो कुछ कहा गया था उससे यह कहना मक़सद न था कि क़ुरआनी आयतों में कोई मेल नहीं है, बल्कि इस बात की तरफ़ इशारा मक़सद था कि क़ुरआन मजीद में एक-एक मसले पर तसलसुल के साथ एक जगह बहस नहीं की गई है, बल्कि जहाँ-जैसा मौक़ा पेश आया है मसलों के पहलुओं में से एक पहलू या कुछ पहलुओं को बयान कर दिया गया है, इसलिए क़ुरआन मजीद के ध्यान से पढ़नेवाले को ज़रूरी है कि जब वह किसी मसले पर कोई राय क़ायम करना चाहे तो मजमूई तौर पर क़ुरआन की पूरी तालीम नज़र के सामने रखे। नहीं तो अगर वह सिर्फ़ एक आयत या कुछ आयतों पर निर्भर रहेगा और दूसरी आयतों को जो उस मसले से ताल्लुक़ रखती हैं नज़रन्दाज़ कर देगा तो सही राय क़ायम न कर सकेगा।

3. हैरत है कि आपने सूरा-3 आले-इमरान को छठे रुकूअ़ से लेकर बारहवें रुकूअ़ तक अनेकों बार पढ़ा और फिर भी मुश्किल दूर न हुई। जबकि छठे रुकूअ़ के शुरू ही में आप देख सकते थे कि जो लोग हज़रत इबराहीम, याक़ूब, मूसा (अलैहि॰) और बनी-इसराईल के दूसरे पैग़म्बरों (अलैहि॰) पर ईमान रखते थे उनको इस बिना पर दुनिया और आख़िरत में सख़्त अज़ाब की धमकी दी गई है कि वे ईसा (अलैहि॰) पर ईमान न लाए थे। ग़ौर कीजिए कि ये लोग पूरी तरह से पैग़म्बरी के मुनकिर न थे। सिर्फ़ एक पैग़म्बर की पैग़म्बरी का दावा सुनकर उन्होंने अपने इल्म और फ़िक्र की हद तक ग़ौर किया और जब उनका दिल उसपर न ठुका तो उन्होंने मानने से इनकार कर दिया। मगर इसपर—

> "अल्लाह किसी जान पर उसकी ताक़त से बढ़कर ज़िम्मेदारी का बोझ नहीं डालता।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-286)

इसका वह क़ायदा जो आप पेश करते हैं अल्लाह तआला ने जारी न किया बल्कि फ़रमाया—

"उन्हें दुनिया और आख़िरत में कड़ी सज़ा दूँगा।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-56)

न सिर्फ़ इस जगह पर बल्कि क़ुरआन मजीद में किसी दूसरे जगह पर भी कहीं यह नहीं कहा गया कि इस अज़ाब की धमकी से वे लोग अलग हैं जो अगरचे ईसा (अलैहि॰) की पैग़म्बरी में 'नेक-नीयती' के साथ शक रखते हैं मगर शिर्क (बहुदेववाद) से बचते हैं और तौहीद और तक़्वा के तरीक़े पर क़ायम हैं।

4. उलझन की बड़ी वजह वह आयत है जिसमें किताबवालों को एक 'समान' कलिमे की तरफ़ बुलाया गया है, और उसमें मुहम्मद (सल्ल॰) की पैग़म्बरी पर ईमान लाने का ज़िक्र नहीं है। इससे पहले कि आयत पर बहस की जाए, आयत के अस्ल शब्द सुन लीजिए—

"(ऐ नबी!) कहो कि ऐ किताबवालो! आओ एक ऐसी बात की तरफ़ जो हमारे और तुम्हारे बीच एक 'समान' है, यह कि हम अल्लाह के सिवा किसी की बन्दगी न करें, उसके साथ किसी को साझी न ठहराएँ और हममें से कोई अल्लाह के सिवा किसी को अपना रब न बना ले। इस दावत को क़बूल करने से अगर वे मुँह मोड़ें तो साफ़ कह दो कि गवाह रहो, हम तो मुस्लिम (सिर्फ़ ख़ुदा की बन्दगी और फ़रमाँबरदारी करनेवाले) हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-64)

इस आयत में कौन-सा शब्द है जिससे आपने ये मानी (अर्थ) निकाल लिए कि इस कलाम से मक़सद यहूदियों और ईसाइयों को अल्लाह की तरफ़ दावत देने के काम में मुसलमानों के साथ शामिल होने की दावत देना था? और यह कहाँ कहा गया है कि अगर तुम अपनी सच्ची तालीम पर अमल करोगे और शिर्क को छोड़ दोगे तो अल्लाह की तरफ़ दावत देने के साझा काम में हम और तुम एक जैसे होंगे? और इस मानी और मतलब की तरफ़

कौन-सा इशारा है कि मुहम्मद (सल्ल॰) की पैग़म्बरी पर ईमान न लानेवाले ईमान लानेवालों की तरह हक़ पर हैं और उनके बराबर दर्जा रखते हैं?

अस्ल बात यह है कि जब अल्लाह के नबी (सल्ल॰) ने किताबवालों (यहूदी और ईसाई) के सामने अपनी पैग़म्बरी का दावा पेश किया और वे आप (सल्ल॰) से झगड़ा करने लगे (जैसा कि मुबाहले यानी एक-दूसरे को लानत वाली आयत में, इस आयत से ऊपर ही बयान किया गया है) तो अल्लाह तआला ने अपने नबी (सल्ल॰) को हुक्म दिया कि तुम उनको इस बात की तरफ़ दावत दो जो तुम्हारे और उनके बीच मुश्तरक (साझा) है यानी यह—

- अल्लाह के सिवा किसी की इबादत न करो।
- अल्लाह के साथ किसी को साझीदार न बनाओ।
- अल्लाह के सिवा किसी को अपना रब और अपना ख़ुदा और हक़ीक़ी फ़रमाँरवा और हाकिम न बनाओ।

ये तीनों बातें वे थीं जो मूसा और ईसा (अलैहि॰) की अस्ल शिक्षाओं में मौजूद थीं, मगर यहूदी और ईसाई इनको छोड़ बैठे थे। ईसाइयों ने ईसा और मरयम (अलैहि॰) को माबूद (पूज्य-प्रभु) बना लिया था। यहूदी और ईसाई दोनों अल्लाह के साथ दूसरों को साझी ठहराने लगे थे—

> "यहूदी कहते हैं कि उज़ैर अल्लाह का बेटा है और ईसाई कहते हैं कि मसीह (ईसा) अल्लाह का बेटा है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-30)

यहूदी और ईसाई दोनों ने अपने आलिमों, पेशवाओं और धार्मिक उहदेदारों (पदाधिकारियों) को ख़ुदा बना रखा था—

> "उन्होंने अपने आलिमों और दरवेशों को अल्लाह के सिवा अपना रब बना लिया है।" (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-31)

चूँकि यहूदियों और ईसाइयों की गुमराही की शुरुआत इसी वजह से हुई थी कि उन्होंने मूसा और ईसा (अलैहि॰) की बुनियादी तालीम को छोड़ दिया

था, इसलिए हुक्म हुआ कि पहले इनकों उस चीज़ की तरफ़ बुलाओ जो इनके अपने तसलीम किए हुए मज़हब की तालीम भी है और तुम्हारे दीन की बुनियाद भी। इस दावत से दो फ़ायदे मक़सूद (अपेक्षित) थे। एक यह कि किताबवालों में से जो इतना हक़-पसन्द और नेक मिज़ाज का होगा कि अपने मज़हब के सदियों से चले आ रहे बाप-दादा के झूठे अक़ीदों को छोड़ देने पर आमादा हो जाएगा, उसके लिए मुहम्मद (सल्ल०) की सच्चाई तसलीम करने में कोई मुश्किल रुकावट न बनेगी। दूसरे यह कि इस एक कलिमे की दावत से यहूदियों और ईसाइयों दोनों को मालूम हो जाएगा कि मुहम्मद (सल्ल०) भी उस चीज़ की तरफ़ बुलानेवाले हैं जिसकी तरफ़ ईसा और मूसा और दूसरे पैग़म्बर (अलैहि०) बुलाते थे। फिर इनकी तसदीक़ (पुष्टि) करनेवाले के लिए इनको झुठलाने की कौन-सी माकूल वजह है?

यह इस आयत का साफ़ और स्पष्ट मतलब है। इससे यह बात कहाँ निकलती है कि किताबवालों से मुहम्मद (सल्ल०) पर ईमान लाने की माँग न थी? और इससे यह बात कैसे निकाली जा सकती है कि अगर किताबवाले सिर्फ़ 'अपनी सच्ची तालीम' पर अमल करें और शिर्क छोड़ दें तो वे मुहम्मद (सल्ल०) को झुठलाने या आप (सल्ल०) की पैग़म्बरी में शक रखने के बावजूद हिदायत पाए हुए और नजात के हक़दार होंगे। क्या यह आयत उस आयत को रद्द करती है जिसमें तमाम इनसानों को मुहम्मद (सल्ल०) पर ईमान लाने की दावत दी गई है?

"(ऐ मुहम्मद!) कह दो कि ऐ इनसानो! मैं तुम सबकी तरफ़ उस ख़ुदा का पैग़म्बर हूँ।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-158)

"तो फिर ईमान लाओ अल्लाह पर और उसके भेजे हुए उम्मी नबी पर।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-158)

"उम्मीद है कि तुम सीधा रास्ता पा लोगे।"
(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-158)

और क्या यह आयत उस आयत को भी रद्द करती है जिसमें कहा गया है कि जो इस नबी की पैग़म्बरी और इसके लाए हुए पैग़ाम को न मानेगा

वह घाटे में रहेगा?

"और जो उसके साथ इनकार का रवैया अपनाएँ, वही अस्ल में नुक़सान उठानेवाले हैं।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-121)

क्या क़ुरआन मजीद में कोई ऐसी मिसाल मिलती है कि किसी क़ौम के पास पैग़म्बर भेजा जाए और वह उसको न माने और फिर भी हिदायत पाई हुई और नजात के हक़दार ही रहे? अगर ख़ुदा की तरफ़ से आए हुए पैग़म्बर को मानना और न मानना दोनों बराबर हों और न मानने की सूरत में भी उसी तरह नजात पा सके जिस तरह मानने की सूरत में होती है, तो पैग़म्बरों के भेजने से बढ़कर बेकार और व्यर्थ काम और क्या होगा? बज़ाहिर ऐसा ख़याल करने में बड़ी रवादारी नज़र आती है। मगर हक़ीक़त में ग़ौर कीजिए तो मालूम होता है कि ख़ुदा की तरफ़ इस बात को मंसूब करना ख़ुदा को (अल्लाह माफ़ करे!) नादान साबित करना है।

5. प्रश्न के तहत आपने जो कुछ फ़रमाया है उसके जवाब में वह बात काफ़ी है जो मैं अभी बयान कर चुका हूँ। मगर जिन दो आयतों की तरफ़ आपने इशारा किया है उनकी कुछ और तशरीह (व्याख्या) कर देना ज़रूरी है।

"ये किताबवाले ईमान लाते...।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-110)

इस आयत के अरबी शब्द 'आ-म-न' से मुराद मुहम्मद (सल्ल०) पर ईमान लाने के सिवा और क्या हो सकता है? इस आयत में जिनका ज़िक्र 'अहले-किताब' के शब्द से किया गया है उनका अहले-किताब (किताबवाले) होना ही इस बात की दलील है कि वे अल्लाह पर, अपनी किताब पर, अपने रसूल या पैग़म्बरों पर, फ़रिश्तों पर और आख़िरत के दिन पर ईमान रखते हैं। अब आप ही फ़रमाएँ कि और किस पर ईमान लाने की कसर बाक़ी रह गई है?

इसी तरह—

"अगरचे उनमें कुछ लोग ईमानवाले भी पाए जाते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-110)

इस आयत में आया है कि उन्हीं अहले-किताब (किताबवालों) में से कुछ लोगों को जब ईमानवाला कहा गया है तो इसका मतलब भी इसके अलावा और क्या हो सकता है कि ये ईमानवाले वे अहले-किताब हैं जो मुहम्मद (सल्ल॰) पर ईमान लाए थे? और यह मालूम है कि वे कुछ ही थे। उनमें से अकसर ईमान नहीं लाए और उन्हें 'फ़ासिक़' (नाफ़रमान) कहा गया है। मैंने तर्जमे में माज़ी और हाल (भूत और वर्तमान) का फ़र्क़ सिर्फ़ मतलब वाज़ेह करने के लिए कर दिया था। वरना अगर आयत का तर्जमा इस तरह किया जाए कि "उनमें से कुछ ईमानवाले हैं और ज़्यादातर फ़ासिक़ (नाफ़रमान)" तो इससे भी मफ़हूम नहीं बदलता।

रही दूसरी आयत, तो उसमें यह बताया गया है कि किताबवालों में भी दर्जों का फ़र्क़ है। उनमें से जो गरोह रातों को इबादत करता और किताब पढ़ता है और ख़ुदा और आख़िरत (परलोक) के दिन पर ईमान रखता है, और परहेज़गारी के साथ ज़िन्दगी बसर करता है, और न सिर्फ़ ख़ुद नेकी करनेवाला है बल्कि दूसरों को भी नेकी का हुक्म देता और बुराई से रोकता है, वह उस गरोह से बेहतर और ऊँचे दर्जे में है जो ख़ुदा की आयतों का इनकारी और हक़ से नाफ़रमानी करनेवाला, बदकार और गुमराह है। ज़ाहिर है कि अगर इन दोनों गरोहों को एक जैसा समझा जाए और इनका अंजाम एक ही सा हो तो यह इनसाफ़ के ख़िलाफ़ होगा। उन बदकारों के मुक़ाबले में उन नेकी करनेवालों की क़द्र यक़ीनन होनी चाहिए और होगी भी। मगर यह पहले ही कह दिया कि उन परहेज़गार और नेक किताबवालों के हक़ में भी बेहतर यही था कि वे उम्मी नबी (सल्ल॰) पर ईमान ले आते—

"ये अहले-किताब ईमान लाते तो इन्हीं के हक़ में बेहतर था।"
(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-110)

क्योंकि ख़ुदा ने जिस नबी को भी भेजा है इसी लिए भेजा है कि उसकी बात मानी जाए—

"(उन्हें बताओ कि) हमने जो पैग़म्बर भी भेजा है इसी लिए भेजा है कि ख़ुदा के हुक्म की बुनियाद पर उसकी आज्ञा का पालन किया जाए।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-64)

जो आदमी ख़ुदा के रसूल की बात नहीं मानता वह अस्ल में ख़ुदा की बात नहीं मानता–

"जिसने रसूल की पैरवी की उसने अल्लाह की पैरवी की।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-80)

ख़ुदा के पैग़म्बर की बात को न मानना ही 'फ़िस्क़' (नाफ़रमानी) है–

"अगरचे उनमें से कुछ लोग ईमानवाले भी पाए जाते हैं, मगर उनके ज़्यादातर लोग नाफ़रमान हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-110)

और नाफ़रमानों (फ़ासिक़ों) को उनकी जगह ज़रूर दिखाई जाएगी।

6. आयत–

"अल्लाह तुम्हें अपनी रहमत का दोहरा हिस्सा देगा।"

(क़ुरआन, सूरा-57 हदीद, आयत-28)

इस आयत की व्याख्या में जो कुछ मैंने बयान किया है वह शक की बात के साथ है। मैं यक़ीन के साथ नहीं कह सकता कि परहेज़गार और नेक किताबवालों को अल्लाह की रहमत (दयालुता) में से कितना हिस्सा मिलेगा और उनके कर्मों की क़द्र किस सूरत में होगी? इसको अल्लाह ही बेहतर जानता है, और अल्लाह ने अपनी किताब में जब इसकी कोई तसरीह (व्याख्या) नहीं की है तो मुझे और किसी को भी अपनी राय से इसको तय करने का कोई हक़ नहीं। मैं यक़ीन के साथ जो कुछ कह सकता हूँ, वह बस इसी क़द्र है कि न तो वे उस कम दर्जे में रखे जाएँगे जो बदकार इनकारियों के लिए है और न उन पूरे ईमानवालों के दर्जे के बराबर कर दिए जाएँगे जो तमाम पैग़म्बरों के साथ मुहम्मद (सल्ल॰) पर और तमाम किताबों के साथ क़ुरआन मजीद पर ईमान लाए हैं।[1]

(तर्जुमानुल-क़ुरआन, नवम्बर 1934 ई॰)

☆☆

1. इस लेख के प्रकाशित होने के बाद से एक लम्बे समय तक दोबारा इस लेख को देखने का मौक़ा न मिला था। अब जो इस जगह पर नज़र पड़ी तो दो हदीसें याद आ गईं, जो

इस आयत की ठीक-ठीक व्याख्या करती हैं। एक यह है–

"क़सम है उस हस्ती की जिसके हाथ में मुहम्मद की जान है कि इस उम्मत का कोई आदमी ऐसा नहीं है, चाहे वह यहूदी हो या ईसाई, जो मेरी पैग़म्बरी की ख़बर सुने और उस पैग़ाम को जो मैं लाया हूँ न माने और फिर जहन्नमियों में शामिल न हो।"

(हदीस : मुस्लिम-153)

दूसरी यह–

"तीन आदमी हैं जिनको दोहरा अज्र (अच्छा बदला) मिलेगा, एक वह आदमी जो किताबवालों में से था, पहले अपने नबी को तो मानता ही था, अब मुहम्मद पर भी ईमान ले आया... ।" (हदीस : बुख़ारी-97, मुस्लिम-154)

देखने में तो यह अजीब बात मालूम होती है कि जो आदमी पहले पैग़म्बर को मानता है और फिर बादवाले पैग़म्बर को भी मानने लगा उसे तो दोहरा अज्र मिले, मगर जिसने बादवाले नबी को न माना वह पहले नबी (पैग़म्बर) को मानने के अज्र से भी महरूम हो जाए। सतही नज़र में सीधा-सा हिसाब तो यही नज़र आता है कि अगर दोनों नबियों को मानने के दो अज्र हैं तो एक के मानने पर एक अज्र होना चाहिए। मगर यह सिर्फ़ एक धोखा है जो थोड़े-से सोच-विचार से दूर हो जाता है। मान लीजिए कि एक आदमी है जो हुकूमत के नियुक्त किए हुए पहले गवर्नर के तहत अच्छी सेवाएँ करता रहा। फिर हुकूमत ने उसकी जगह दूसरा गवर्नर भेजा तो वह उसकी मातहती पर भी उसी तरह अच्छी सेवाएँ करता रहा। हुकूमत कहती है कि इसकी पिछली सेवाओं का बदला भी देंगे और बाद की सेवाओं का भी। अब क्या हुकूमत के इस बयान से आप यह नतीजा निकालने में हक़ पर होंगे कि जिस आदमी ने पहले गवर्नर को तो माना और उसका ख़ूब अनुपालन किया मगर दूसरे गवर्नर को उसने मानने से साफ़ इनकार कर दिया उसे हुकूमत उन सेवाओं का बदला तो ज़रूर ही देगी जो उसने पहले गवर्नर के मातहत अंजाम दी थीं? इस सवाल का जो कुछ भी आप जवाब देंगे वही इस मसले का जवाब भी है कि दोनों पैग़म्बरों के माननेवाले का अज्र दोहरा क्यों है और बाद में आनेवाले पैग़म्बर का इनकार करके जो आदमी पहले पैग़म्बर ही के साथ जुड़ा रहे वह किस बिना पर सिरे से किसी अज्र (अच्छे बदले) का हक़दार ही नहीं रहता। हाँ, यह सही है कि अगर वह बदकारियाँ और ज़ुल्म-सितम नहीं करता तो उसका अंजाम उन लोगों का-सा न होगा जो ज़ालिम और बदकार हैं।